।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ
अंक दूसरा

५०

ज्येष्ठ
२४७५

अपूर्व शान्ति कैसे हो?

यह आत्मा तो अनादिकाल से वही का वही है; परन्तु अनादिकाल में कभी भी उसने अपने स्वाधीन स्वभाव को जानकर उसका आश्रय नहीं लिया और पर का ही आश्रय किया है, इससे पराश्रय में उसे कभी शांति नहीं मिली। आत्मा का सुख पर में नहीं है, तो फिर पराश्रय से आत्मा कैसे सुखी हो? जीव का अपना स्वभाव ज्ञान-आनन्द से भरपूर है, उसका विश्वास करके यदि उसका आश्रय ले तो अपूर्व सुख-शान्ति हो। जिस प्रकार काष्ठ, समुद्र में तैरता है, उसी प्रकार आत्मा की वर्तमान अवस्था त्रैकालिक चैतन्य-सागर में गिरने-पर (अर्थात् त्रैकालिक चैतन्य का आश्रय करने पर) तैरती है अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।

(भेदविज्ञानसार)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

एकअंक चार आना

वार्षिक मूल्य- तीन रुपया

राजकोट में अपूर्व धर्मप्रभावना

पूज्यश्री कानजीस्वामी चैत्र सुदी एकम् के दिन राजकोट शहर में पधारे थे। वहाँ के मुमुक्षु मण्डल के उल्लासपूर्वक भव्य स्वागत किया था। राजकोट में स्वामीजी सेठ श्री नानालाल कालीदास के मकान आनन्दकुंज में वैशाख सुदी अष्टमी तक ठहरे थे। इन दिनों में राजकोट की अधिकांश जनता ने स्वामीजी के उपदेश का लाभ लिया था। हजारों श्रोताजनों में अधिकांश वकील, डॉक्टर, ऑफीसर आदि शिक्षितवर्ग ही रहता था। कितने ही व्याख्यानों का रेकार्डिंग भी हुआ था। राजकोट में एक भव्य दिगम्बर जैन मन्दिर का निर्माण हो रहा है। वैशाख सुदी नवमी के दिन स्वामीजी ने राजकोट से लाठी की ओर विहार किया।

लाठी में मंगल-महोत्सव

वैशाख सुदी ६ दिन पूज्य श्री कानजीस्वामी लाठी शहर में पधारे। नगर के मुमुक्षुसंघ ने अति उत्साहपूर्वक स्वामीजी का भव्य स्वागत किया था। वैशाख वदी छठ के दिन समवशरण प्रतिष्ठा का और अष्टमी के दिन श्री समयसार प्रतिष्ठा का उत्सव मनाया गया था। पश्चात् वैशाख वदी १३ से श्री सीमंधर भगवान एवं अन्य भगवन्तों की प्रतिष्ठाविधि प्रारम्भ हुई जोकि जेठ सुदी पंचमी, बुधवार के दिन अपूर्व धर्म प्रभावना और उत्साह के साथ सानन्द समाप्त हुई।

श्री किशनसा तोतुसा मलकापुर की ओर से ५१/- इक्यावन रुपये एकवर्ष तक १७ भाईयों को आत्मधर्म भेजने के लिए प्राप्त हुए हैं।

धन्यवाद!

वैशाख २४७५ आत्मधर्म वर्ष पाँचवाँ, अंक-२

धर्मात्मा का समभाव

[परमात्म-प्रकाश गाथा १०४ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन]

अंक ४८ से आगे

आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानमूर्ति है, वही मैं हूँ, वर्तमान अवस्था में जो राग-द्वेष होते हैं, वह मेरा स्थायी स्वरूप नहीं है, अन्य कोई वह राग-द्वेष नहीं कराता, मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति से ही वह राग-द्वेष होता है, किन्तु उस राग-द्वेष का स्वीकार मेरे स्वभाव में नहीं है। इस प्रकार अपने स्वभाव के आश्रय से धर्मी जीव किसी को भी अपना शत्रु या मित्र नहीं मानते, किन्तु स्वभावदृष्टि से सभी आत्माओं को अपने ही समान परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति मानते हैं, इससे उन्हें सबके प्रति समभाव ही है।

ज्ञानी के जो अल्प राग-द्वेष होता है, उसमें एकत्वबुद्धि नहीं होती, इसलिए उसकी कोई गिनती नहीं है। पर के कारण राग नहीं मानते, स्वभाव में से राग नहीं आता, और जो राग होता है, उसमें एकता नहीं मानते किन्तु अपने स्वभाव का उससे भिन्न ही अनुभव करते हैं, इससे ज्ञानी के वास्तव में राग होता ही नहीं, किन्तु स्वभाव की एकता ही बढ़ती है।

सभी जीव परिपूर्ण सिद्ध समान हैं, ऐसी दृष्टि से देखनेवाले को दूसरों का भला-बुरा करने की मान्यता कहाँ रही? उसे किसी के ऊपर राग-द्वेष करने का अभिप्राय नहीं रहा, अर्थात् उसके अभिप्राय में अनन्त समभाव प्रगट हुआ। कोई किसी का भला या बुरा करने के लिए त्रिकाल में भी समर्थ नहीं है, स्वभाव से सभी आत्मा समान हैं – ऐसी श्रद्धा जब तक जीव नहीं करता तब तक उसके यथार्थ समता नहीं होती –अर्थात् धर्म नहीं होता। कोई शरीर के टुकड़े करे तथापि, 'भगवान की इच्छानुसार होता है' – ऐसा मानकर शुभभाव रखे, क्रोध न करे तो भी उसके वास्तविक समभाव नहीं है, क्षमा नहीं है। भगवान मुझे समभाव रखाये – ऐसा जो मानता है,उसे

आत्मा की प्रतीति नहीं है। अथवा कोई जीव भगवान को कर्ता न माने किन्तु, मुझे संयोग से लाभ-हानि होती है – ऐसा माने तो उसके भी समभाव नहीं होता। मेरा स्वभाव ही रागद्वेषरहित साक्षीस्वरूप है, ऐसे स्वभाव की प्रतीति के बिना सच्ची समता नहीं होती।

ज्ञानी धर्मात्मा किसी को शत्रु या मित्र नहीं मानते और वास्तव में आत्मा का जीवन-मरण भी नहीं मानते। देह ही मेरी नहीं है, देह का संयोग-वियोग, सो मैं नहीं हूँ, देह की अवस्था उसके अपने कारण से होती है, देह की अवस्था को स्थिर रखने या हटाने के लिए कोई समर्थ नहीं है, त्रिकाली ज्ञानानंदमूर्ति ही मेरा स्वरूप है– ऐसी बुद्धि में ज्ञानी को शरीर का जीवन-मरण देखकर राग-द्वेष नहीं होता, इससे उन्हें जीवन-मरण पर समभाव है।

आत्मा को धर्म किसप्रकार होता है – उसकी यह बात चल रही है। आत्मा का धर्म कहीं बाह्य में नहीं होता, स्वतः जैसा अन्तर में है, वैसा ही माने तो धर्म हो। कोई आत्मा कभी दूसरे को जिला नहीं सकता और न मार ही सकता है। शरीर का संयोग-वियोग होता है, किन्तु उससे आत्मा का जीवन-मरण नहीं है, और उसके कारण राग या द्वेष भी नहीं होते। धर्मात्मा जीव को अपने में त्रैकालिक स्वभाव की दृष्टि है, इससे सबको जीवन-मरण से रहित ही देखते हैं, इसलिए पर्याय में जीवन-मरण देखकर उन्हें राग-द्वेष नहीं होता। अज्ञानी जीव पर के जीवन-मरण को देखकर उसके कारण से राग-द्वेष मानते हैं, उनका राग-द्वेष पर में एकत्वबुद्धि सहित है, ज्ञानी के वैसे राग-द्वेष का अभाव है।

प्रश्न :– भगवान की इच्छानुसार होता है – ऐसा मानकर कोई जीव क्रोध न करे तो उसके समभाव है या नहीं? क्योंकि उसमें तो अपनी निरभिमानता आती है।

उत्तर :– भगवान की इच्छानुसार होता है – अर्थात् भगवान मेरे परिणामों के कर्ता हैं, यह मान्यता महान अज्ञानमय है, उसमें अंशमात्र भी समभाव या निरभिमानता नहीं है। स्वतः स्वतंत्र तत्व है, उसे नहीं माना। भगवान मेरे कर्ता और मैं पर का कर्ता, इस मान्यता में अनन्त परद्रव्य का अहंकार विद्यमान है। धर्मी जीव समझते हैं कि मैं अपना परिणाम जैसा करूँ, वैसा होता है। मेरे परिणाम का कोई कर्ता नहीं है और मैं किसी अन्य का कर्ता नहीं हूँ, इससे ज्ञानियों के ही सच्ची निरभिमानता होती हैं। मैं दूसरे का हानि-लाभ करूँ या दूसरा कोई मुझे लाभ-हानि करे, ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। धर्मी के अन्तरस्वभाव की दृष्टि है, अपनी पर्याय की भी दृष्टि नहीं है; जितनी स्वभाव में एकाग्रता हो उतना ही धर्मी को लाभ है, पैसा या राजपाट से धर्मात्मा लाभ नहीं मानते। क्षायिक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, राजा हो, चक्रवर्ती हो और छहखण्ड की साधना करे, किन्तु उससे आत्मा को

लाभ नहीं मानता। पर से लाभ है – ऐसी मान्यतापूर्वक ज्ञानी को किंचित् राग नहीं होता और पर से हानि है – ऐसी मान्यतापूर्वक किंचित् द्वेष नहीं होता, इससे लाभ या हानि के परमार्थ से समभाव है।

यह समभाव किसप्रकार कहा जाता है, वह समझने योग्य है। यहाँ स्वभावदृष्टि सिद्ध की है। स्वभावदृष्टि का कार्य सभी पर समभाव है। पर की क्रिया मेरी नहीं है, दूसरे को मुझसे लाभ-हानि नहीं हैं, मेरी अवस्था में जो राग होता है, वह समयपर्यन्त का है, त्रैकालिक स्वभाव में वह राग नहीं है। मैं ज्ञानस्वभाव से एकरूप हूँ – इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल में स्वभाव की एकता बढ़ती जाती है, इसलिए ज्ञानी के सभी पर समभाव है।

शरीरादि तो अजीवतत्त्व है; दया, भक्ति इत्यादि जो परिणाम होते हैं, वे पुण्य हैं, और हिंसा, चोरी आदि के जो परिणाम होते हैं, वे पाप हैं; यह पुण्य और पाप दोनों आस्रवतत्त्व हैं, उनसे जीवतत्त्व भिन्न हैं; और जानने की जो दशा है, वह एक समयपर्यंत की है, उस एक समय की दशा जितना ही जीवतत्त्व नहीं है। त्रिकाल एकरूप रहनेवाला चैतन्य-स्वभावरूप जो द्रव्य है, वह जीवतत्त्व है; ऐसे जीवतत्त्व को पहचानने से धर्म होता है। त्रैकालिक जीवतत्त्व की दृष्टि होने से ज्ञानी के पर्यायदृष्टि नहीं है, अर्थात् ज्ञानी पर्याय जितना ही जीव को नहीं मानते, इससे उनके पर्यायबुद्धि का राग-द्वेष होता ही नहीं। पर्याय को जानने पर भी द्रव्यस्वभाव में एकता की वृद्धि ही करते हैं, पर्यायबुद्धि में नहीं अटकते, इसलिए उनको किसी पर्याय पर विषमभाव नहीं, किन्तु सभी पर समभाव है। सिद्धपर्याय अथवा निगोद पर्याय-सभी को जानने से समभाव कब रहता है? जिसकी बुद्धि पर्याय में ही रुकी हुई है उसे, सिद्धपर्याय को देखकर राग और निगोद पर्याय को देखकर द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा, अर्थात् पर्याय के आश्रय से समभाव नहीं रह सकता। स्वभावदृष्टिवाला जीव, सिद्धपर्याय के समय भी पूर्णस्वभाव को देखता है, इससे सभी पर्यायों पर उसे समभाव रहता है। कदाचित् अल्प राग-द्वेष हो तो उस समय भी अपने स्वभाव की एकता नहीं छूटती, इससे वास्तव में उसके राग-द्वेष नहीं हुआ किन्तु स्वभाव की एकता ही हुई है। स्वभावबुद्धि का स्वीकार और पर्याय-बुद्धि की निषेध ही समभाव है।

आत्मा वर्तमान भाव जितना नहीं है, किन्तु त्रिकाल अखण्ड ज्ञान-मूर्ति है– ऐसी श्रद्धा, सो द्रव्यबुद्धि का स्वीकार और पर्यायबुद्धि का अस्वीकार है। त्रैकालिक स्वभाव की बुद्धि से आत्मा को माननेवाला सम्यग्दृष्टि है और पर्यायबुद्धि से आत्मा का माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में राजपाट और हजारों स्त्रियों का संयोग भी हो और उस सम्बन्धी राग हो, तथापि

उस समय अखण्डस्वभाव की दृष्टि नहीं हटती, किन्तु स्वभाव की अधिकता ही है, इससे उनके समभाव ही वर्त रहा है।

यहाँ पर राग-द्वेष दूर होकर जो वीतरागदशा होती है, उसकी बात नहीं है, किन्तु धर्मात्मा के राग-द्वेष होने पर भी सम्यक्श्रद्धारूप समभाव कैसा होता है– उसकी बात है। मुनिओं के विशेष समभाव होता है, इससे उनके परम सामायिक कही जाती है। गृहस्थ के भी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितना समभाव है, उतनी तो सामायिक है। ज्ञानसामायिक, दर्शनसामायिक, देशविरतसामायिक और सर्वविरत-सामायिक – ऐसी चार प्रकार की सामायिक है। अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव का आदर होना और विकार का आदर न होता, सो ज्ञान-दर्शनरूप सामायिक है। पहले मिथ्यात्व के कारण ऐसा मानता था कि 'पुण्य अच्छा और पाप बुरा, अमुक मुझे लाभ करता है, और अमुक हानि करता है'– इससे श्रद्धा और ज्ञान में विषमभाव था। अब, कोई भी पर मुझे लाभ-हानि करनेवाला नहीं है, तथा पुण्य-पाप दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं– इस प्रकार स्वभाव के आश्रय से सम्यक्श्रद्धा होने पर ज्ञान-दर्शन में समभाव प्रगट हुआ। दयाभाव हो अथवा हिंसाभाव हो – वह मेरा स्वरूप नहीं है, जो त्रिकाल चैतन्यभाव है, सो मैं हूँ – ऐसी स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करना, सो श्रद्धा-ज्ञानरूप सामायिक है। आरम्भ परिग्रह में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि के भी वह सामायिक होती है। वह सामायिक दो घड़ी की ही नहीं होती, किन्तु सदैव प्रवर्तमान रहती है। उसके पश्चात् स्वभाव की लीनतारूप भाव प्रगट हो और रागादि नष्ट हो, तब देशविरतरूप सामायिक होती है, और अधिकांश स्वभाव-स्थिरता प्रगट होने से सर्वसंग परित्यागी मुनिदशा प्रगट होती है, वह सर्वविरतिरूप सामायिक है।

''करेमि भंते सामायिय''– ऐसी भाषा में सामायिक नहीं है, वह वाणी तो जड़ है। मैं उस वाणी को बोलता हूँ – ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। और सामायिक की ओर का विकल्प भी राग है, उस राग को धर्म माने तो मिथ्यात्व है। वाणी और विकल्प रहित ज्ञानस्वभाव है, सो मैं हूँ – ऐसी श्रद्धा-ज्ञान, सो दर्शन-ज्ञानरूप सामायिक हैं; जिनके ऐसी सामायिक होती है, वे जीव सभी जीवों को समान जानते हैं; जगत में कोई शत्रु या मित्र नहीं हे, एकेन्द्रिय-पंचेन्द्रियादि आत्मा नहीं किन्तु सभी जीव ज्ञान-दर्शन की मूर्ति हैं – ऐसा देखनेवाले को किसके कारण राग होगा? और किसके कारण द्वेष होगा? पर के देखने के कारण जो राग-द्वेष मानता था, वह राग-द्वेष दूर हो गया और सभी के ऊपर समभाव हो गया, यह धर्म है और यही मुक्ति का उपाय है।

ज्ञानी और अज्ञानी की देखने की रीति भिन्न है। ज्ञानी पर्यायदृष्टि से नहीं देखते, किन्तु

स्थायी स्वभाव की दृष्टि से देखते हैं, इससे पर्यायबुद्धि का फलरूप राग-द्वेष उनके होता ही नहीं। अज्ञानी जीव स्थायी स्वभाव को नहीं जानते किन्तु पर्याय को ही देखते हैं, इससे पर्यायबुद्धि से उनके राग-द्वेष होता ही है। ज्ञानी जीव स्वभावदृष्टि से सभी जीवों को समान जानते हैं, किन्तु इससे जगत के जीवों की पर्याय में जो अन्तर है, वह कहीं दूर नहीं हो जाता। पर्याय से तो जो सिद्ध, सो सिद्ध हैं और जो निगोद, सो निगोद है। सिद्ध को सिद्धरूप से और निगोद को निगोदरूप से जानना, वह कहीं विषमभाव का कारण नहीं है; किन्तु सिद्ध को सिद्ध पर्याय जितना ही मानकर उनके ऊपर राग और निगोद को निगोद पर्याय जितना ही मानकर उनपर द्वेष करना – ऐसी पर्यायबुद्धि ही विषमभाव का कारण है। ज्ञानी जब पर को जानता है, उस समय भी स्वभाव की एकता दूर नहीं होती, इससे उसके समभाव है। केवली भगवान समस्त जीवों को और सभी पर्यायों को जानते हैं, तथापि उनके स्वभाव की सम्पूर्ण एकता होने से समभाव ही है। पर्याय को जानने पर भी उसमें एकत्वबुद्धि नहीं होती, इससे वास्तव में केवली भगवान सभी जीवों को शुद्ध स्वभावरूप ही जानते हैं – ऐसा कहा जाता है। केवली भगवान की भाँति साधक सम्यग्दृष्टि जीव भी अपनी स्वभावसत्ता को शुद्ध जानने हुए अन्य सभी को शुद्ध ही देखते हैं। मैं रागादि स्वरूप नहीं हूँ, और दूसरे जीव भी रागादि स्वरूप नहीं हैं, सभी जीव शुद्ध चैतन्य-सत्तास्वरूप हैं–ऐसी दृष्टि में धर्मी जीव दूसरों की पर्याय को देखने पर उस पर्याय जितना ही जीव को नहीं मानते, क्योंकि धर्मात्मा के पर्यायदृष्टि से देखना नहीं है। स्वभावदृष्टि ही धर्म है। धर्मी जीव स्वभावदृष्टि रखकर पर्याय को जानते हैं, वहाँ उनको स्वभावदृष्टि के फल की ही वृद्धि है, पर्यायदृष्टि का फल (अर्थात् विषमभाव) उनके नहीं है।

ज्ञानी के अभिप्राय में कोई जीव शत्रु या मित्र नहीं है, इससे किसी पर के कारण उन्हें राग-द्वेष नहीं होता। चारित्र के दोष का जो अल्प राग-द्वेष होता है, उससे स्वभाव अधिक है। स्वभाव की अधिकता रखकर ज्ञानी देखते हैं कि सभी आत्मा शुद्ध परमेश्वर हैं।

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि जीव, क्या स्त्री और माता को भी समान मानते हैं?

उत्तर :– यहाँ स्वभावदृष्टि की बात है, और स्वभावदृष्टि में सभी जीव समान हैं। स्त्री का जीव स्त्री-पर्याय जितना ही नहीं है, किन्तु पूर्ण चैतन्य भगवान है और माता का जीव भी वर्तमान पर्याय जितना नहीं किन्तु पूर्ण चैतन्य भगवान है। एकरूप स्वभावदृष्टि में कोई माता या स्त्री है ही नहीं। सिद्ध या निगोद, एकावतारी या अनन्त-संसारी, स्त्री अथवा माता- यह समस्त जीव परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप समान हैं। ऐसी स्वभावदृष्टि में अनन्त वीतरागभाव आ जाता है।

प्रश्न :– यदि सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री को भी परमेश्वर मानता हो तो राग छोड़कर एक ओर क्यों नहीं बैठ जाता?

उत्तर :– स्वभावदृष्टि से तो सम्यग्दृष्टि एक ओर ही बैठा है। एक ओर बैठने की व्याख्या क्या है? परद्रव्य में तो कोई आत्मा बैठता नहीं है। अज्ञानी जीव, विकार में ही अपनापन मानकर उसमें स्थित हुआ है तथा ज्ञानी धर्मात्मा जीव, संयोगों से और विकार से अपने स्वभाव को भिन्न जानकर स्वभाव की एकता में स्थित हैं। ज्ञानी के स्त्री आदि सम्बन्धी जो राग हो, उस राग से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करते हैं, राग का आदर नहीं करते, इससे वास्तव में ज्ञानी जीव अपने स्वभाव में ही बैठे हैं।

कौनसा जीव बाह्य की क्रिया करता है? शरीर को चलाने की या स्थिर रखने की क्रिया तो कोई भी आत्मा तीनलोक और तीनकाल में नहीं कर सकता, अज्ञानी जीव मात्र उसका अहंकार करता है, कि 'मैं करता हूँ' तो भी वह जीव पर में कुछ भी नहीं कर सकता, वह अपने अहंकार भाव में बैठा है, वही अधर्म है। ज्ञानी, शरीर की किसी अवस्था को अपनी नहीं मानता, इससे वह पर में से और विकार में से उठकर अपने स्वभाव की रुचि में ही स्थित है – यही धर्म है।

परमाणु इस जगत की स्वतन्त्र वस्तु है, परमाणुओं के संयोग से शरीरादि बनते हैं, उनकी जो वर्तमान अवस्था हो, वह जड़ की स्वतन्त्र क्रिया है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अज्ञानी जीव अपने स्वतंत्र ज्ञातास्वभाव को भूला है; इसलिए पर को भी परतन्त्र मानता है। अपने त्रैकालिकस्वभाव को न जानने से अपने को क्षणिक विकार जितना मानता है, इससे पर की पर्याय को जानने से उन पदार्थों को भी वह क्षणिक पर्याय जितना ही मानता है, और उनकी पर्याय में इष्ट-अनिष्ट के भेद करके एकत्वबुद्धि का राग-द्वेष करता है, यह महा अधर्म है। पर से और विकार से मुक्त –ऐसा अपना ज्ञानमात्र स्वभाव है, उसकी श्रद्धा, पहचान करके उसमें अभेद होना, उसका नाम अकेला बैठा कहलाता है। नग्न होकर जंगल में जाकर बैठे और ऐसा माने कि शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, और इससे मुझे धर्म होता है, तो वह जीव अकेला नहीं है, किन्तु शरीर के अहंकार को साथ में रखकर बैठा है, उसके अभिप्राय में वह अनन्त पदार्थों के संग का सेवन कर रहा है।

अन्धश्रद्धा के कुछ भी मान लेना, सो धर्म का मार्ग नहीं है। स्वतः युक्तिद्वारा समझकर अपने आत्मा को जँचे तब मानना चाहिए। जब तक समझ में न आये, तब तक बार-बार सत्समागम से परिचय करके निर्णय करना चाहिए। स्वतः निर्णय किये बिना मात्र निमित्त के लक्ष्य से स्वीकार कर लेने से धर्म नहीं होता।

अज्ञानी जीव ऐसा कहते हैं कि–' निश्चय से तो जीव पर का न करे, किन्तु व्यवहार से पर का कर सकता है – ऐसा अनेकान्तवाद जैनमत में है'– उसकी बात मिथ्या है। उसे निश्चय और व्यवहार का ज्ञान ही नहीं है। निश्चयनय से या व्यवहारनय से आत्मा पर का कुछ कर ही नहीं सकता। पर की क्रिया स्वतन्त्ररूप होती है, उसका ज्ञान करना और उस समय के निमित्त का ज्ञान कराने के लिए 'इसने यह किया'– ऐसा मात्र उपचार से कहना, सो व्यवहार है। किन्तु जीव व्यवहार से पर का कर सकता है – ऐसा मानना तो व्यवहारनय नहीं है – किन्तु मिथ्यात्व है।

पुनःश्च, ''मनुष्य जीवित हो उस समय खाने-पीन, बोलने आदि की क्रिया होती है, और मुर्दा खाता-पीता या बोलना नहीं है, इसलिए जीव ही वह क्रियायें करता है''– ऐसा अज्ञानी कहते हैं, वह मान्यता भी बिल्कुल मिथ्या है; खाना-पीना-बोलना, यह सभी जड़द्रव्य की स्वतंत्र क्रियाऐं हैं। प्रथम यह निश्चित करो कि 'खाने' का अर्थ क्या है? वह कोई द्रव्य है? गुण है? या पर्याय है? खाना जड़ परमाणुओं की पर्याय है। अमुक वस्तु बाहर थी, वह क्षेत्रान्तर होकर पेट में पहुँची, उसे लोग 'खाया' कहते हैं। यह तो जड़ की क्रिया है, जीव ने उसमें क्या किया? जीव नहीं खाता और जड़ भी नहीं खाता। 'खाया'– यह तो बोलने की रीति है, – परमाणु की पर्याय को जानने के लिए एक नाम है। 'छींक खायी, आलस्य खाया, इत्यादि कहा जाता है, वह भिन्न-भिन्न दशा को जानने की भाषा है, जड़ की अवस्था का परिणमन है, आत्मा उसे व्यवहार से भी नहीं करता; किन्तु आत्मा अपने ज्ञानसहित पर का ज्ञान करता है– उस ज्ञान को व्यवहारनय कहा जाता है। अपने स्वभाव का ज्ञान करे, सो निश्चयनय है और पर का ज्ञान करे, सो व्यवहारनय है। किन्तु निश्चय से अपने आत्मा की क्रिया करे और व्यवहार से पर की क्रिया करे – ऐसा मानता, सो एकान्त मिथ्यात्व है।

यहाँ तो पर्याय की दृष्टि को ही उड़ाते हैं। पर को जाननेवाली ज्ञानपर्याय जितना आत्मा को माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। ज्ञान स्वतः पर को और पर्याय को जाने अवश्य, किन्तु त्रैकालिक स्वभावरूप में उसका स्वीकार न करे, अपने एकरूप चैतन्यस्वभाव को ही स्वीकार करे, सो धर्मदृष्टि है। आत्मा अपने स्वभाव से ईश्वर है। जड़ अपनी शक्ति से ईश्वर है। मैं पर का करूँ – ऐसी जिसकी मान्यता है, वह तो जड़बुद्धि-मिथ्या-दृष्टि है। और मेरी पर्याय में जो रागादि होते हैं, उसका मैं कर्ता हूँ, वह मेरा स्वभाव है – ऐसा जो माने, वह भी पर्यायमूढ़ – मिथ्यादृष्टि है। अनन्त ज्ञान-दर्शनस्वभाव का आदर, सो द्रव्यदृष्टि है, यथार्थदृष्टि है, निश्चयदृष्टि है, सत्यदृष्टि है, तथा वह धर्म है, समभाव है, सुख है और वही मोक्ष का मार्ग है।

मैं पर की आशा रखनेवाला नहीं हूँ, क्योंकि मुझे पर का आश्रय नहीं है, मेरी अवस्था में

विकार होता है, उसके आधार से भी मैं स्थिर नहीं होता; जिस त्रिकालस्थायी स्वभाव में से मेरी पर्याय का प्रवाह आता है, उसी स्वभाव का मुझे आधार है। इस प्रकार स्वभाव का आश्रय ही धर्म है।

जिन्होंने स्वभाव का आश्रय किया है– ऐसे ज्ञानी जीव शुद्ध संग्रहनय से समस्त जीवों को समान जानते हैं। इस समय अधिकांश लोग ऐसी जो बातें करते हैं 'कि सभी जीवों को समान मानना, और विश्व-वात्सल्य करना चाहिए'– यह तो मात्र पराश्रय से बातें करते हैं; विश्ववात्सल्य का यथार्थ अर्थ नहीं समझते, इससे पर के साथ सम्बन्ध जोड़ने की बात करते हैं; पर से सम्बन्ध तोड़ने की बात उसमें नहीं है। आत्म के पर का सम्बन्ध मानना, सो मिथ्यात्व है। यहाँ जो सभी जीवों को समान कहा गया है। पर परलक्ष्य की बात नहीं है। ज्ञानी किस प्रकार सबको समान जानते हैं? स्वतः अपने में स्वभावदृष्टि करके पर्यायदृष्टि को हटा दिया है इससे; अन्य जीवों में पर्याय से जो भेद है, उसे न देखकर, शुद्ध संग्रहनय से सभी के स्वभाव को समान मानते हैं, और इससे उनके सभी पर समभाव है। शुद्ध संग्रहनय का अर्थ क्या? समस्त जीव शुद्ध चैतन्यसामर्थ्य से समान हैं – ऐसा देखना और पर्याय में हीनाधिकता के जो भेद हैं, उनसे जीवों में भेद न करना– इसका नाम शुद्ध संग्रहनय है। जहाँ अपने स्वभाव का आदर हुआ, वहाँ ज्ञानी जीव अन्तर एकता के प्रभाव द्वारा सभी जीवों को समान स्वभाववाला जानते हैं, उनके शुद्ध संग्रहनय होता है। अज्ञानी के शुद्धसंग्रहनय नहीं होता।

किसी भी सच्चे नय का हेतु वीतरागभाव की साधना है। शुद्ध संग्रहनय में वह हेतु किसप्रकार आया? पर्यायदृष्टि से देखने पर पर्याय के भेदों को देखने से विषमता और राग-द्वेष होता है। इसलिए भेददृष्टि छोड़कर अभेद स्वभाव की दृष्टि करके, शुद्ध संग्रहनय से सभी जीवों को समान जानने पर विषमता दूर हो जाती है और वीतरागी समभाव प्रगट होता है – यह शुद्ध संग्रहनय का हेतु है। ज्ञानी जीव अभेद स्वभाव के आदर में भेद को नहीं देखते, इससे भेद को देखने का फल (अर्थात् पर्यायबुद्धि को देखने का फल) जो बंधन है, वह उनके नहीं होता।

सामने तो समस्त आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, और उनके द्रव्य तथा पर्याय दोनों हैं। सिद्धपर्याय भी है और निगोद पर्याय भी है। ज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि –'समस्त जीव पूर्ण स्वभावयुक्त हैं, किन्तु इससे कहीं निगोद के जीव को स्वभावदृष्टि नहीं हो जाती, निगोद दशा मिटकर सिद्ध दशा नहीं हो जाती है; जगत में तो निगोददशा और सिद्धदशा – सभी दशाऐं जैसी की वैसी हैं, किन्तु धर्मी जीव स्वतः पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से देखनेवाले हैं; इसलिए उनके पर्यायदृष्टि का

बन्धन नहीं है। जगत के जीवों की पर्याय में जो भेद है, वह तो है ही; और ज्ञानी उन भेदों को जानते भी अवश्य हैं, किन्तु अखण्डस्वभाव में एकता रखकर देखने के कारण ज्ञानी को उन भेदों में एकत्वबुद्धि नहीं होती, इससे उनके समभाव ही है। स्वभाव में ही एकता है, और पर्याय में एकता नहीं है– इस अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी पर्याय को देखते ही नहीं, मात्र स्वभाव को ही देखते हैं। स्वभावदृष्टि से देखनेवाले ज्ञानी के सर्वत्र समभाव ही है।

प्रश्न :– क्या आत्मा ही पहचान होते ही जीव वीतराग हो जाता है?

उत्तर :– श्रद्धा की अपेक्षा से तो वीतराग है। ज्ञानी को अस्थिरता के कारण राग-द्वेष होते हैं, जोकि उनके पुरुषार्थ का ही दोष है, किन्तु ज्ञानी उस राग को या पुरुषार्थ के दोष को अपने स्वभाव में नहीं मानते; रागरहित ज्ञानस्वभाव में ही ज्ञानी को एकताबुद्धि है, राग में एकताबुद्धि नहीं है। स्वभाव में एकताबुद्धि से राग वास्तव में दूर होता जाता है और स्वभाव की एकता बढ़ती जाती है, इसलिए ज्ञानी के परमार्थ से राग होता ही नहीं, किन्तु अपने स्वभाव की एकता ही होती है। जो राग होता है, वह स्वभाव की एकता में नहीं आया किन्तु ज्ञेयरूप में रह गया। राग के समय भी स्वभाव की ही अधिकता है, इसलिए ज्ञानी के मात्र स्वभाव ही होता है; राग नहीं होता। ऐसी धर्मात्मा जीव की दशा है।

प्रश्न :– इस धर्म में त्याग या ग्रहण करने की बात तो कुछ नहीं आयी?

उत्तर :– इसी में यथार्थ ग्रहण-त्याग की बात आ जाती है। ग्रहण या त्याग किसी बाह्य वस्तु का नहीं हो सकता, किन्तु अन्तर में ही होता है। हरियाली आदि वस्तुओं को छोड़ने की बात नहीं आयी, क्योंकि यह वस्तुएँ तो आत्मा से पृथक् हैं ही। मैं दूसरी वस्तुओं का ग्रहण या त्याग कर सकता हूँ अथवा उन्हें छोड़ सकता हूँ, ऐसी मान्यता तो अधर्म है। भले ही शाक, फलादि हरी वस्तुएँ न खाता हो, तो भी ऐसी मान्यतावाला जीव अधर्मी ही है। और कोई भगवान के नाम का जाप करने की बात नहीं आयी, क्योंकि जाप के शब्द तो जड़ हैं और उस ओर का शुभराग सो विकार है – मन्दकषाय है, वह धर्म नहीं है; इसलिए मैं परवस्तु का ग्रहण या त्याग कर सकता हूँ – ऐसी विपरीत मान्यता का और राग से मुझे धर्म होता है, उस विपरीत मान्यता का त्याग करना आया है। तथा जड़ से और विकार से भिन्न अपना स्वभाव पूर्ण ज्ञायकमूर्ति है, उसकी यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता को ग्रहण करना आया है। श्रद्धा में पूर्णस्वभाव का ग्रहण और अपूर्णता का त्याग, सो धर्म है।

'ॐ अर्हंम्'– ऐसे शब्द के जाप में आत्मा नहीं है और उस ओर के शुभविकल्प में भी

आत्मा नहीं है। 'ॐ अर्हंम्' का जाप करते समय मन्दकषाय हो तो अशुभ दूर होकर शुभ होता है– इससे इन्कार नहीं है, किन्तु उससे आत्मा को क्या? अशुभ को दूर करके शुभ तो अभव्य जीव भी करता है। अशुभ को दूर करके शुभभाव करे, उससे कहीं आत्मा को धर्म नहीं होता, शुभराग से आत्मा को लाभ नहीं है। रागरहित ज्ञानमयस्वभाव की रुचि-आदर-श्रद्धा और लीनता करना ही सच्चा जाप है, उसमें पूर्ण भगवान आत्मा आ जाता है, और वही धर्म है। जिसमें समस्त-परिपूर्ण आत्मा न आये, वह धर्म नहीं है। आत्मा का स्वभाव पूर्ण है, उसे पूर्णरूप से माने तो उसके आश्रय से पर्याय में धर्म प्रगट हो। और पूर्ण न मानकर अपूर्ण या विकारी माने तो पर्याय में अधर्म हो। परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति करने से जो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुआ, वह समभाव है, उससे अवश्य मुक्ति प्रगट होती है।

किसी को ऐसा लगता हो कि यह तो बहुत भारी बात है, अपने से नहीं हो सके– ऐसी बात है, तो यह मन में से निकाल देना चाहिए। यह स्वयं आत्मा की ही बात है, किन्तु अपरिचित होने के कारण कठिन मालूम होती है; परिचय करे तो बिल्कुल सरल-समझ में आने योग्य बात है। केवलज्ञान प्राप्त करने में अनन्त पुरुषार्थ है, इससे वह बड़ी बात है। किन्तु यह तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की छोटी बात है, केवलज्ञान की अपेक्षा इसमें अल्प पुरुषार्थ है। चैतन्यतत्त्व क्या है और उसका चिन्ह क्या है– उसे स्वयं जाने बिना धर्म नहीं होता। जैसे अंक और अक्षर जाने बिना हिसाब नहीं लिख सकता; वैसे ही चैतन्य का अंक (चिन्ह) क्या है और उसका अक्षर (जिसका नाश न हो वह) स्वभाव क्या है– वह जाने बिना धर्म का हिसाब नहीं होता और चैतन्य में स्थिरता नहीं होती। भले ही उपवास, भक्ति, व्रत, दानादि करे किन्तु उसमें कहीं भी आत्मलाभ नहीं है।

अहो! अपना स्वभाव कैसा महान महिमावान् है, वह कभी रुचिपूर्वक सुना नहीं, जाना नहीं, अन्तर में उसकी रुचि नहीं की; इसके अतिरिक्त दया, दानादि सर्व प्रकार के शुभभाव कर चुका है, किन्तु इससे यहाँ कहते हैं कि सभी जीवों का स्वभाव शुद्ध परिपूर्ण है। जो स्वतः अपने स्वभाव का अनुभव करे, वही जीव सबके परिपूर्ण स्वभाव को जान सकता है और उसके ही समभावरूप धर्म होता है।

अपने में पूर्णता की दृष्टि में ''सभी जीव अपने स्वभाव से शुद्ध है''– ऐसा ज्ञानी जानते हैं, इससे ज्ञानी को किसी पर के कारण राग-द्वेष नहीं होता। श्री शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ – यह तीनों तीर्थङ्कर चक्रवर्ती थे, क्षायिक-सम्यग्दर्शन के धारक थे, छहखण्ड का राज्य और हजारों

रानियों का संयोग था एवं राग भी था, किन्तु उसमें हेयबुद्धि थी; एकताबुद्धि अंशमात्र भी नहीं थी, स्वभाव की दृष्टि से समभाव ही था। पर्याय के राग का ज्ञान था, स्त्रियों को और राजपट इत्यादि को भी जानते थे, किन्तु स्वभाव की एकता नहीं छूटती थी। स्वभाव की एकता के बल से प्रतिक्षण राग दूर ही होता रहता था।

प्रश्न :– यदि ज्ञानी परपदार्थ को अपना नहीं मानते हों तो 'यह पुस्तक मेरी, यह वस्तु मेरी'–ऐसा क्यों कहते हैं?

उत्तर :– अरे भाई! भाषा में ऐसा बोला जाता है, तथापि अन्तर में पर को अपना नहीं मानते; वह कपट नहीं है। भाषा बोलने की क्रिया ही आत्मा की नहीं है, वह तो जड़ है, किन्तु वह समझना चाहिए कि उस समय ज्ञानी का अन्तरङ्ग अभिप्राय क्या है?

प्रश्न :– भाषा जड़ की है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है, – ऐसा कहा है; फिर जिससमय आत्मा निकल जाता है, तब मुर्दा बोलता क्यों नहीं?

उत्तर :– भाई! तू धीरज रख, और देहदृष्टि को छोड़कर चैतन्य को देख। क्या चैतन्य के अस्तित्व के कारण जड़-परमाणुओं में भाषा होने की योग्यता होती है? जब परमाणुओं को स्वतन्त्र योग्यता हो, तब भाषा होती है और योग्यता न हो तो भाषा नहीं होती। उसमें चैतन्य का कुछ काम नहीं है। आत्मा भाषा बोलता है, अथवा शरीर की क्रिया करता है – ऐसी मान्यता तो बड़ी भारी भूल है। यहाँ पर की तो बात ही नहीं है, एकदम स्वभावदृष्टि की बात है। जहाँ स्वभावदृष्टि हुई कि निरन्तर समभाव रहता है। और उस स्वभाव में लीनता करने से व्रत और मुनिदशा प्रगट होती है। मैं ज्ञानमूर्ति वीतरागस्वरूप ही हूँ, मेरे राग भी नहीं है और शरीर भी नहीं है तो फिर देश इत्यादि कौन मेरा है? देश का मैं क्या करूँ? चैतन्यस्वभावरूप मेरा स्वदेश असंख्यप्रदेशी है, वह स्वतन्त्र है। मेरे चैतन्यप्रदेश में विकार का प्रवेश नहीं है, और पर का तो मुझमें त्रिकाल अभाव है, –ऐसा जानकर अपने चैतन्यप्रदेश में रहना, सो धर्म है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् अपने त्रैकालिक स्वभाव की प्रतीति और अनुभव। साधकदशा में पर्याय के अनेक प्रकार होते हुए भी, धर्मात्मा ने जो एकरूप स्वभाव जाना है, उसका अनुभव एक ही प्रकार का है। पर्याय की अनेकता से स्वभाव की एकता में भंग नहीं पड़ता। साधकजीव के पर्याय-पर्याय में निर्मलता बढ़ती ही जाती है। जो अनेक निर्मल पर्यायें प्रगट होती रहती हैं, वे सब पर्यायें स्वभाव में ही एकता करके अभेद होती हैं। पर्याय की जो निर्मलता बढ़ती जाती है, उस अपेक्षा से अनेकता है, किन्तु उस प्रत्येक पर्याय के अनुभव में तो एक ही प्रकार का स्वभाव आता

है, अनेक पर्यायों के अनुभव का तो एक ही प्रकार है, जिस स्वभाव को श्रद्धा में स्वीकार किया है, उस एक स्वभाव की एकता का ही समस्त पर्याय में अनुभव होता है; इससे वास्तव में ज्ञानी एकरूप स्वभाव को ही देखते हैं, पर्याय के भेद को नहीं देखते। पर्याय में जो हीनाधिकता के भेद हैं, वह तो व्यवहारज्ञान का विषय है। जिसे ज्ञान जानता है, वह पदार्थ ज्ञान का विषय कहलाता है, और जहाँ एकता माने, उसे दर्शन का विषय कहते हैं। अखण्डस्वभाव में एकता, सो सम्यग्दर्शन का विषय है। पर में राग करके और राग में एकता मानकर ज्ञान रुक गया, सो मिथ्यादृष्टि का विषय है। अज्ञानी जीव, राग में अपने ज्ञान की एकता करते हैं और ज्ञानी जीव, रागरहित स्वभाव में ज्ञान की एकता करते हैं। स्वभाव की ओर उन्मुख होने से निर्मलपर्याय के अनेकप्रकार होते हैं, किन्तु उस प्रत्येक पर्याय के अनुभव में तो एक ही प्रकार का स्वभाव आता है, अनेक पर्यायों के अनुभव का तो एक ही प्रकार है, जिस स्वभाव को श्रद्धा में स्वीकार किया है, उस एक स्वभाव की एकता का ही समस्त पर्याय में अनुभव होता है; इससे वास्तव में ज्ञानी एकरूप स्वभाव को ही देखते हैं, पर्याय के भेद को नहीं देखते। पर्याय में जो हीनाधिकता के भेद हैं, वह तो व्यवहारज्ञान का विषय है। जिसे ज्ञान जानता है, वह पदार्थ ज्ञान का विषय कहलाता है, और जहाँ एकता माने, उसे दर्शन का विषय कहते हैं। अखण्ड स्वभाव में एकता, सो सम्यग्दर्शन का विषय है। पर में राग करके और राग में एकता मानकर ज्ञान रुक गया, सो मिथ्यादृष्टि का विषय है। अज्ञानी जीव, राग में अपने ज्ञान की एकता करते हैं और ज्ञानी जीव रागरहित स्वभाव में ज्ञान की एकता करते हैं। स्वभाव की ओर उन्मुख होने से निर्मलपर्याय के अनेक प्रकार होते हैं, किन्तु उस प्रत्येक पर्याय में स्वभाव की ही एकता है, प्रत्येक पर्याय अभेद एकरूप स्वभाव की ओर ही उन्मुख होती है। पर्याय की निर्मलता के अनेकप्रकारों का, और जो पुण्य-पाप होते हैं, उनका ज्ञान होता है, किन्तु श्रद्धा में उसका स्वीकार नहीं है। पूर्णतत्त्व की एकता रखकर भङ्ग-भेद को जानते हैं, वहाँ पर्यायबुद्धि नहीं होती, इससे राग-द्वेष नहीं होते और समभाव ही रहता है। स्वभाव की एकता में वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण रागरहित पर्याय प्रगट होती है और मुक्ति हो जाती है।

जीव ने अनन्तकाल से अपने पूर्णतत्त्व को नहीं जाना। नवतत्त्वों को जाना, किन्तु नवतत्त्वों में स्वतः अखण्ड जीवतत्त्व है, उसे नहीं जाना-नहीं माना। अपना आत्मा नवतत्त्व के विकल्पजाल से रहित है, इसे नहीं जाना और नवतत्त्वों के विकल्प में रुक गया। विकल्पों के द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और जैसा निजस्वरूप है, वैसा श्रद्धा-ज्ञान में आये बिना समभाव नहीं होता; समभाव, सम्यग्दर्शन से ही होता है। परजीव मेरा शत्रु या मित्र है, पर मुझे लाभ-हानि करनेवाला

है–ऐसी मान्यता की, वहाँ सबके ऊपर समताभाव नहीं रहा किन्तु दो भाग हो गये। यह शत्रु और यह मित्र – ऐसा जहाँ माना कि एक ऊपर द्वेष और दूसरे पर राग आ गया। पुण्य अच्छा और पाप बुरा –ऐसा जो मानता है, उसे भी पुण्य-पाप-रहित एकरूप स्वभाव की दृष्टि नहीं है, इससे उसके समभाव नहीं है। जिसके अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि है, वह सभी जीवों को ज्ञानस्वभावी जानता है, ज्ञानस्वभाव को कोई शत्रु या मित्र नहीं है, अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से सभी पर समभाव हो गया। पुण्य-पाप दोनों मेरे ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं– ऐसा जानते ही उनके ऊपर समभाव हो गया। इस प्रकार जिसे अपने एकरूप स्वभाव की दृष्टि है, वह समस्त जीवों को समान जानता है और उसके समभावरूप धर्म होता है।

जो जीव सभी को समान नहीं जानता, किन्तु पर्याय को देखकर भेद करता है, उस जीव के पर्यायदृष्टि है, आत्मस्वभाव की दृष्टि नहीं है, और उसके समभाव नहीं है।

जिसप्रकार अन्यमतों में ईश्वर को जगत्कर्ता माना जाता है, वैसे ही जैनमत में जो कर्मों को राग-द्वेष करानेवाला मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसने कर्मों को ईश्वर के रूप में माना है। और जो पुण्य से धर्म मानते हैं, वे विकार को ही आत्मा मानते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। जो एक पर्याय जितना ही आत्मा को मानें, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। अपना पूर्णस्वभाव ही अपना ईश्वर है; उस स्वभाव की दृष्टि करके उसमें एकता करना, सो संसार को नाश करने का उपाय है। जिसके चैतन्यस्वभाव की दृष्टि न हुई, उसे संसार के नाश का उपाय प्राप्त नहीं हुआ और जिसके चैतन्यस्वभाव की दृष्टि हुई, वह जीव, संसार का नाश करके मुक्ति प्राप्त करता है।

मोह को क्षय करने का उपाय

[श्री प्रवचनसार, गाथा ८० में बतलाया है कि 'जो जीव द्रव्य से, गुण से और पर्याय से अरिहन्त को जानता है, वह जीव अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नष्ट होता है।' इस पर विस्तृत व्याख्यान गतांकों में प्रगट हो चुके हैं, उनके पश्चात् यहाँ पर विशेष दिया गया है।]

मोह के क्षय का उपाय

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में मोह का नाश करने की रीति बतलाते हैं। जो जीव, अरिहन्त भगवान को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानते हैं, वे अपने आत्मा को जानते हैं और उनका मोह अवश्य विलीन हो जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने मोह को क्षय करने का उपाय प्राप्त किया है। अरहन्त अपने पुरुषार्थ की शक्ति से कर्मों का क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं, वैसे ही मैं भी अपने पुरुषार्थ के बल से कर्मक्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त करनेवाला हूँ, बीच में कोई विघ्न नहीं है। जो अरिहन्त की प्रतीति करता है, वह अवश्य अरिहन्त होता ही है। अब यहाँ ८०वीं गाथा के भावार्थ पर प्रवचन होते हैं।

अरिहन्त को जानने से अपने द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं?

भावार्थ :– अरिहन्त भगवान और अपना आत्मा निश्चय से समान हैं। पुनःश्च, अरिहन्त भगवान, मोह-राग-द्वेष रहित होने के कारण उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इससे जो जीव, द्रव्य-गुण-पर्यायरूप उस (अरिहन्त भगवान के) स्वरूप को प्रथम मन द्वारा समझ ले, तो ''यह जो 'आत्मा... आत्मा' ऐसा एकरूप (कथंचित् सदृश) त्रैकालिक प्रवाह, सो द्रव्य है; उसका जो एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेषण है, सो गुण है और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं सो पर्यायें हैं''– इस प्रकार अपना आत्मा भी उसे द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से मन द्वारा ज्ञान में आता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय की व्याख्या

आत्मा त्रिकाल कथंचित् सदृश्य है; त्रिकाल 'आत्मा, आत्मा'–ऐसी जो समानता है, सो द्रव्य है; त्रैकालिक प्रवाह में एकरूप रहनेवाला द्रव्य है। त्रैकालिक प्रवाह में एक-एक क्षण का भिन्न परिणमन, सो पर्याय है। 'प्रवाह' कहते ही परिणमन सिद्ध हो जाता है। त्रिकाल प्रवाह में जो निरन्तर सदृश्य 'आत्मा, आत्मा' रहता है, वह द्रव्य है। समस्त पदार्थों में द्रव्य तो समान ही

रहनेवाला है और उस द्रव्य का एकरूप रहनेवाला जो 'चैतन्य, चैतन्य'– ऐसा विशेषण, सो गुण है और द्रव्य के प्रवाह में जो क्षणवर्ती भेद हैं, सो पर्यायें हैं। इस प्रकार अरहन्त भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से पहचानने पर अपना आत्मा भी विकल्प द्वारा ज्ञान में आता है।

अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने के पश्चात् क्या करना चाहिए?

इस प्रकार अपने आत्मा को ज्ञान में विकल्प द्वारा जानने के पश्चात् मोह का नाश किस प्रकार होता है, वह बतलाते हैं। ''इस प्रकार त्रैकालिक निजात्मा को मन द्वारा ध्यान में लेकर पश्चात् जैसे मोतियों को और सफेदी को हार में ही अन्तर्गत करके केवल हार को ही जाना जाता है, वैसे ही आत्मपर्यायों को और चैतन्य गुण को आत्मा में ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानने से परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होते रहने के कारण जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है, और इससे मोह (दर्शनमोह) निराश्रय होकर विनाश को प्राप्त होता है।''

सम्यक्दर्शन के पश्चात् क्या करना चाहिए?

इस प्रकार मात्र अभेद आत्मा ही लक्ष्य में आ जाने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् क्या करना शेष रहा? शरीर का कर्ता तो पहले भी नहीं था, पहले रागादि का कर्ता था, उसे छोड़कर अब ज्ञानमात्र भाव का कर्ता हुआ; अब ज्ञान में ज्ञान को एकाग्र करने की क्रिया करना शेष रहा। उस एकाग्रता की क्रिया पूर्ण होने से ही केवलज्ञान-अरहन्तदशा प्रगट होती है।

निष्क्रिय ज्ञानमात्र भाव प्रगट होने से मोह का क्षय होता है।

जीव अपने अन्तरस्वभाव में ढ़लने से निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है और ज्ञान में भेद के विकल्परूप क्रिया नहीं रहती। जहाँ जीव चिन्मात्रभाव को प्राप्त हुआ कि वहीं मोह का नाश हो जाता है। परवस्तुओं की क्रिया तो आत्मा कर नहीं कर सकता और रागरूप क्रिया करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है; इस प्रकार ज्ञानस्वभाव निष्क्रिय ही है। ऐसे स्वभाव में ढ़लने से निष्क्रिय ज्ञानमात्र भाव प्रगट होता है और मिथ्यात्व नाश को प्राप्त होता है। 'ज्ञान-मात्र भाव को प्राप्त होता है' और 'मोह का क्षय होता है'– इस प्रकार अस्ति-नास्ति से कथन है। अज्ञान के आश्रय से मोह था; अब मात्र ज्ञानभाव के प्रगट होने से मोह निराश्रय हुआ, इससे वह नाश को प्राप्त होता है।

इस प्रकार, 'ज्ञानमात्र भाव ही मैं हूँ'– ऐसे निर्णय में ही सुख-समाधानरूप धर्म है। और पश्चात् जीव ज्यों-ज्यों ज्ञानभाव में एकाग्रता करे, वैसे ही वैसे सम्यक्चारित्र में वृद्धि होती जाती है।

ज्ञानमात्र भाव में सम्पूर्ण एकाग्रता करने से सम्पूर्ण ज्ञानमात्र भाव-केवलज्ञान भाव प्रगट होता है। और मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है।

मोह की सेना को जीतने का उपाय

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि – यदि ऐसा है, तो मैंने मोह की सेना को पराजित करने का उपाय प्राप्त किया है।

इस ८०वीं गाथा में शुद्ध आत्मा का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का और दर्शन-मोह को दूर करने का उपाय बतलाया हूँ। सम्यग्दर्शन से शुद्धात्मस्वभाव को जानने के बाद उसमें स्थिरता होती है और चारित्रमोह नाश को प्राप्त होता है –यह ८१वीं गाथा में कहेंगे। दया, व्रत, अहिंसा इत्यादि के जो शुभ विकल्प हैं, सो मोह की सेना है। अरिहन्त भगवान-समान अपने शुद्धात्मा को जानना और शुद्धोपयोग के द्वारा उसमें लीन होना, सो मोह की सेना को नाश करने का उपाय है।

स्वरूप को समझने का सरल उपाय

समस्त आत्मा अरिहन्त जैसे ही हैं। जो अपने स्वरूप को समझना चाहता है, वह समझ सकता है। उसे समझने का मूल सरल उपाय इस गाथा में कहा है। मिथ्यात्व को नाश करने का उपाय यह एक ही है कि :–

'जे जाणतो अरहन्ते गुण द्रव्य ने पर्याय पणे,
ते जीव जाणे आत्मने, तसु मोह पामे लय खरे।'

प्रत्येक पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है। अपने आत्मा की अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ समानता करके, और फिर अरिहन्त का लक्ष्य छोड़कर मात्र अपने आत्मा को अभेदरूप से लक्ष्य में लेना – उसमें अनन्त पुरुषार्थ है। स्वरूप की रुचि के बिना वह पुरुषार्थ नहीं होता। जीव के अन्तरङ्ग में स्वभाव की महिमा आये बिना उस स्वभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न वह नहीं करेगा। जो अपने अरिहन्त के समान शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त करना चाहे, वह अवश्य प्राप्त कर सकता है।

अपना भला करने के लिए क्या करना चाहिए?

हे जीव! तुझे अपना हित करना है न? तो इस जगत में तू खोज ले कि सबसे अच्छा किसने किया है? किसने पूर्ण हित प्रगट किया है? अरिहन्त भगवान इस जगत में सम्पूर्ण सुखी हैं, उन्होंने आत्मा का सम्पूर्ण हित किया है। अरिहन्त भगवान ने किसप्रकार अच्छा किया है? प्रथम

तो अपने आत्मस्वभाव को अरिहन्त के समान जाना और फिर उसमें लीन होकर मोह का क्षय करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किया, इससे वे सुखी हैं। उनके आत्मा की वह केवलज्ञानदशा कहाँ से आयी?

जो त्रिकाल द्रव्य-गुण है, उसमें से वह दशा प्रगट हुई है। अरिहन्त जैसे ही द्रव्य-गुण तुझमें भी हैं, अपने उस स्वभाव की तू श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करे तो तेरे द्रव्य-गुण में से पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट हो, यही अच्छा करने का उपाय है। संसार में अच्छे से अच्छा करनेवाले तो अरिहन्त हैं, तू उन्हीं को आदर्शरूप रख। जहाँ तू अपने पूर्ण स्वभावसामर्थ्य की पहचान करके उसमें लीन हुआ कि वहीं पूर्णदशा प्रगट हुई अर्थात् सम्पूर्ण भला हो गया और कोई बुराई नहीं रही।

जगत में सम्पूर्ण सुखी कौन है?

यदि अच्छा करने के पश्चात् भी कुछ और अच्छा करने को शेष रहे तो उस जीव ने अभी वास्तव में पूर्ण अच्छा नहीं किया, और उसी से वह दुखी है। जिसने पूर्ण अच्छा कर लिया है और अब कुछ भी करना शेष नहीं रहा– ऐसा जो है, वही पूर्ण सुखी है। ऐसे श्री अरिहन्तदेव हैं। जगत के जीवों को दुःखी देखकर अथवा जगत का कुछ करने के लिए अरिहन्त भगवान अवतार नहीं लेते।

उन्होंने अपने आत्मा में सम्पूर्ण अच्छा कर लिया है, इससे वे कृतकृत्य हैं। जगत के जीव राग-द्वेष-मोह से दुःखी हो रहे हैं। अहो! जिनके मोह नहीं है, अवतार नहीं है, मरण नहीं है, विकल्प नहीं है, पर की उपाधि नहीं है, भूख-प्यास नहीं है, पूर्ण केवलज्ञान जिनके प्रगट हो गया है– ऐसे अरिहन्तभगवान का आत्मा इस जगत में सम्पूर्ण सुखी है। इससे वही इस आत्मा के लिए दर्पण के समान हैं। अरिहन्त के स्वरूप को जानने पर परमार्थ से अपने स्वरूप का प्रतिबिम्ब ही ज्ञान होता है। अरिहन्त भगवान जैसे द्रव्य-गुण तो मुझमें त्रिकाल हैं, और पर्याय में जहाँ तक अरिहन्त भगवान जैसा न हो, वहाँ तक मैं अपूर्ण हूँ, वह अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है।

अरिहन्तों ने पर का कुछ भी नहीं किया

श्री अरिहन्तों ने क्या किया? यदि अरहन्त भगवान पर का कुछ करने से अरिहन्त हुए होते तो पूर्णता होने के बाद परद्रव्यों का बहुत करते, किन्तु भगवान ने पर का कुछ किया ही नहीं। भगवान तो पहले भी जानते थे कि आत्मा परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। पर से भिन्न अपने आत्मस्वभाव को जानकर उसी में स्थिर हुए और केवलज्ञान प्रगट किया। इसके अतिरिक्त भगवान ने अन्य कुछ भी नहीं किया।

अरिहन्त होने का उपाय

ऐसे सर्वश्रेष्ठ (पूर्ण शुद्ध) अरिहन्त भगवान को जानकर जो जीव अरिहन्त समान अपने आत्मा में उतर गया और आत्मा में उतरकर भेद के लक्ष्य को तोड़कर अभेद स्वभाव में उन्मुख हुआ कि वहीं उस जीव के सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ और मोह का नाश हो गया। और उस जीव के अरिहन्त भगवान जैसी पूर्ण शुद्धता प्रगट करने का उपाय प्रगट हुआ है। अनन्त तीर्थङ्करों ने यही उपाय किया है और दिव्यध्वनि में भी यही उपदेश दिया है।

अपने में द्रव्य-पर्याय की एकता होने से सम्यग्दर्शन होता है।

प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि ८०वीं गाथा में कहीं है। जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहन्तदेव का स्वभाव है, वैसा ही इस आत्मा का है, अरिहन्त के रागादि नहीं हैं, वैसे ही इस आत्मा के भी रागादि अपना स्वरूप नहीं है– ऐसा जो जीव निश्चित् करता है, उस जीव को आत्म-स्वभाव का सम्यक्दर्शन होता है। परमार्थ से अरिहन्त के स्वरूप में और इस आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है। अरिहन्त भगवान पूर्ण स्पष्टस्वरूप होने से इस आत्मा को वे आदर्श स्वरूप हैं। अरिहन्त भगवान के द्रव्य और गुण पूर्ण हैं और पर्याय भी पूर्ण प्रगट हुई है, वह पर्याय द्रव्य-गुण में से आयी हैं। ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप को जानले तो अपने द्रव्य-गुण के आधार से वर्तमान पर्यायकी अपूर्णता को दूर करने का उपाय करे।

मैं अपूर्णता या विकार जितना नहीं हूँ, किन्तु अरिहन्त जैसा ही हूँ –इस प्रकार पहले अरिहन्त के लक्ष्य से अपने आत्मा का विचार करके, फिर स्व में अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर निर्णय करने से सम्यग्दर्शन होता है। देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष्य से निर्णय करनेवाली अवस्था का अपने स्वभाव में समावेश कर लिया अर्थात् उसकी स्वोन्मुख किया, वहाँ पर में और विकार में एकता की मान्यता छूटकर अपने में द्रव्य-पर्याय की एकता हुई अर्थात् मोह का नाश हुआ और सम्यग्दर्शन हो गया। स्वाश्रय की एकता द्वारा सम्यक्दर्शन होने से ही पराश्रय की एकतारूप मोह का नाश होता है।

अरिहन्तों के पहले अज्ञानदशा थी और पश्चात् ज्ञानदशा हुई तथा पूर्णज्ञान प्रगट हुआ। उनकी पहली और पीछे की सभी अवस्थाओं में रहनेवाला आत्मद्रव्य है। चैतन्यता उनका गुण है, और वर्तमान पर्याय में पूर्ण ज्ञान है। अरिहन्त जैसा ही मेरा आत्मा है – ऐसा निर्णय करने पर राग में एकत्वबुद्धि दूर हो जाती है और अपने स्वभाव का आश्रय होता है। पहले निमित्तों के साथ और विकार के साथ एकत्व मानता था। इससे अपने में द्रव्य-पर्याय का भेद होकर अवस्था में अज्ञान

था, वह संसार का मूल था। अब, रागादि से रहित अपने चिन्मयस्वरूप में एकता करने से द्रव्य-पर्याय का भेद टूट जाने से (पर्याय, द्रव्य में ही लीन होने से), मिथ्यात्व और अज्ञान निराश्रित होते हुए नाश को प्राप्त होते हैं। द्रव्य में मिथ्यात्व और अज्ञान नहीं हैं, और उस द्रव्य में पर्याय की एकता हुई, इससे मिथ्यात्व और अज्ञान को उस पर्याय का आश्रय नहीं रहा, पर्याय स्वतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित हो गई एवं मिथ्यात्व तथा अज्ञान नष्ट हो गये। यही मोह के नाश का अर्थात् धर्म का उपाय है।

पराश्रय से मिथ्यात्व, और स्वाश्रय से सम्यक्त्व

पहले पर्याय पर के आश्रय से परिणमित होती थी, तब, उस पर्याय के आश्रय से मिथ्याव बना रहता था। किन्तु अब, वह पर्याय अपने स्वभाव में अभेद होने से मिथ्यात्व को उसका आधार नहीं रहा, अर्थात् वह नष्ट हो गया। इसमें आत्मा के ज्ञान की ही क्रिया है, बाहर का कुछ भी नहीं है। आत्मा का जो वीर्य, विकार में काम करता था, वह वीर्य, विकार की एकता से छूटकर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ, वहाँ पर का अवलम्बन नहीं रहा अर्थात् मिथ्यात्व ही नहीं रहा। भेद के आश्रय से मिथ्यात्व रहता है और अभेद स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। अभेद स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व का नाश होने के पश्चात् चारित्रमोह का नाश कैसे होता है? वह आगे की गाथा में कहेंगे। शुभभाव का अवलम्बन भी मोह है, इससे जब स्वभाव के आश्रय से उसका भी भेदन करता है, तब सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन से पहले की भूमिका में जीव को क्या करना चाहिए?

८०वीं गाथा के कथनानुसार जिसने द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहन्त भगवान को जाना, उसके कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की मान्यता तो छूट ही गई। अरिहन्त को जानकर वहीं नहीं रुक जाता, किन्तु स्वाश्रय की ओर आता है। अरिहन्त की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्व में ऐसा विचार किया कि मेरे सम्यग्दर्शनादि के लिए अपने द्रव्य-गुण का ही आश्रय है, किसी पर का आश्रय नहीं हैं– इस प्रकार बारम्बार स्वाश्रय की भावना और अभ्यास करता है, और स्वाश्रय भाव में ढ़लने से शुद्धात्मा का साक्षात् अनुभव हुआ पराश्रयभाव का तथा मिथ्यात्व का नाश हुआ।

आत्मा मिथ्यात्वादि का उत्पादक नहीं है

अरिहन्त की भाँति मेरा आत्मा त्रिकाल द्रव्य-गुण से पूर्णस्वभावी हैं; जैसे अरिहन्त के मिथ्यात्व-रागादि की उत्पत्ति नहीं है, वैसे ही मेरा आत्मस्वभाव भी मिथ्यात्व-रागादि का उत्पादक नहीं है, किन्तु शुद्ध ज्ञान का ही उत्पादक है– इस प्रकार भेदज्ञान द्वारा अपने स्वभाव में पर्याय को

उन्मुख किया कि वहाँ आत्मा मिथ्यात्व-रागादि का कारण नहीं रहा। शुद्धस्वभाव की प्रतीति करके उस स्वभाव के आश्रय से आत्मा रहा, इससे मिथ्यात्व और अज्ञान नष्ट हो गये, क्योंकि स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्वदि विकार की उत्पत्ति नहीं होती। अरिहन्त जैसा अपना पवित्र आत्मस्वरूप भासित होने से 'मैं विकार का कर्ता हूँ, ऐसी विपरीत प्रतीति हट गई और निर्मल सम्यक्प्रतीति हुई, अर्थात् जीव को मोह का नाश करने का उपाय प्राप्त हुआ।'

अनुभव की विधि

अनन्त तीर्थङ्कर सन्त मुनिवरों ने प्रथम यही उपाय किया है। स्वभाव का आदर करके अनुभव की विधि एक ही है – अन्य नहीं है। यहाँ ८०वीं गाथा पूर्ण हुई। (गाथा ८१)

सम्पूर्ण मोहक्षय की भावना

इस प्रकार दर्शनमोह का नाश करने के पश्चात् भी जहाँ तक राग-द्वेष रहता है, वहाँ तक सम्पूर्ण शुद्धोपयोग प्रगट नहीं होता। इससे अब इस गाथा में श्री आचार्यदेव सम्पूर्ण शुद्धात्मा की (केवलज्ञान की) प्राप्ति के लिए राग-द्वेष के क्षय की भावना करते हैं। मिथ्यात्वमोह का क्षय तो किया ही है।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् चारित्रमोह के क्षय के लिए पुरुषार्थ की जागृति

जिसे पास में रखने से, मन में जिस वस्तु का चिन्तवन करे वही प्राप्त हो–ऐसा चिन्तामणि हाथ लग जाये तो उसकी सम्भाल कितनी तत्परता से करे? वह चिन्तामणि तो जड़ है और उससे जड़ वस्तुएँ मिलती हैं। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हमारे चैतन्य-चिन्तामणि प्राप्त किया है – हमने परिपूर्ण चैतन्यचमत्कार चिन्तामणि प्राप्त किया है। चैतन्यस्वभाव को ज्ञान में रखकर जैसी भावना करूँ, वैसी वीतरागता प्रगट हो। इस चैतन्य चिन्तामणि स्वभाव में शुद्धोपयोग द्वारा एकाग्र होकर राग-द्वेष का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करूँ। यदि शुभोपयोग में रुक जाऊँ, तो चैतन्यचिन्तामणि की चोरी हो जाती है – केवलज्ञान रुक जाता है। अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर अनादि से पर में और विकार में अपना अस्तित्व मान रखा था, अब विकार-रहित शुद्ध चैतन्यस्वभाव से अपना अस्तित्व जाना और स्वभावोन्मुख अवस्था में चैतन्यचिन्तामणि की प्राप्ति हुई। अहो! अब शुद्धोपयोग द्वारा मैं जितना चैतन्य में एकाग्र होऊँ, उतना राग-द्वेष दूर होकर शुद्धात्मा की प्राप्ति हो। आचार्यदेव के स्वतः पवित्र मुनिदशा प्रवर्तमान है, अधिकांश शुद्धोपयोग प्रगट हुआ है, और अधिकांश वीतरागता प्रगट हुई है, किन्तु अभी जो अल्प शुभराग रहा है, उसे भी सर्वथा नष्ट करके सम्पूर्ण शुद्धात्मप्राप्ति की भावना करते हैं। इस प्रकार हमको 'चिन्तामणि प्राप्त होने पर भी प्रमाद

चोर है'– ऐसा विचार करके आचार्यदेव जागृत रहते हैं। जिसप्रकार ८०वीं गाथा में कहा है, उस प्रकार मोहक्षय का उपाय जानकर और उस प्रकार मोहक्षय का उपाय करके हमने चैतन्यचिन्तामणि प्राप्त किया है। चैतन्यस्वभाव को प्राप्त करके भी यदि उसमें मैं सम्पूर्ण एकाग्र होऊँ, तभी राग-द्वेष का क्षय हो और शुद्धात्मा की (केवलज्ञान की) प्राप्ति हो। द्रव्य-गुण-पर्याय से अपना आत्मस्वभाव जानकर, जितना द्रव्य-गुण में अपनी पर्याय को एकाग्र करूँ, उतना ही शुद्धात्म-अनुभव प्रगट हो, उतना ही शुद्धोपयोग हो और राग-द्वेष दूर हो। शुद्धचैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करके अब अपने स्वभाव में ही एकाग्रता प्रगट करूँ, वही मुक्ति का कारण है। चारित्रदशा प्रगटी होने पर भी, अभी सम्पूर्ण शुद्धोपयोग से स्वरूप में एकाग्रता नहीं हुई है, इससे आचार्यदेव विशेष जागृति की भावना करते हैं। आचार्यदेव सम्पूर्ण मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्रगट करने के लिए कटिबद्ध हुए हैं।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् जीव, राग-द्वेष की छोड़ दे तो
शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

अपने उपयोग को वस्तुस्वभाव में उन्मुख करने से ही लाभ है – इस प्रकार वस्तुस्वभाव को निश्चित् करके मैंने चिन्तामणि प्राप्त किया है – अप्रतिहत सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, तथापि अभी मेरी अवस्था यदि शुभ उपयोग में रुकी रहे तो मुझे हानि है – प्रमादरूपी चोर मेरी शुद्धता को चुरा ले जायेंगे – ऐसा सम्भव है। जितना परोन्मुखता का भाव होता है। उतना प्रमाद है, और वह प्रमादरूपी चोर, मेरी चैतन्यऋद्धि को लूट लेता है, इसलिए मैं जागृत रहता हूँ – ऐसा इस गाथा में आचार्यदेव कहते हैं :–

जीवोववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो, अप्पाणं लहदि सुद्धं॥८१॥

जीव मोह ने करी दूर, आत्मस्वरूप सम्यक् पामीने।
जो राग-द्वेष परिहरे तो पामतो शुद्धात्मने॥८१॥

अर्थ :– जिसने मोह को दूर किया है और आत्मा के सम्यक्तत्त्व को प्राप्त किया है – ऐसा जीव, यदि राग-द्वेष को छोड़ दे, तो शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

दर्शनमोह को दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् चारित्रमोह को दूर करने की बात इसमें है। ८०वीं गाथा में कहा हुआ उपाय समझकर जिसने मिथ्यात्वमोह को दूर किया है – ऐसा जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ता है, तो शुद्धात्मा की प्राप्ति करता है। (अपूर्ण)

ग्राहकों से निवेदन

पाठकों को विदित हो चुका है कि इस वर्ष से हिन्दी आत्मधर्म के विशेष प्रचार की दृष्टि से उसका प्रबन्ध श्री जैन स्वाध्यामन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ ने अपने हाथ में ले लिया है और उसके छापने का एवं रवानगी आदि का कार्य पूर्वानुसार 'अनेकान्त मुद्रणालय' मोटा आंकड़िया की ओर से ही होता रहेगा।

आत्मधर्म का प्रबन्ध करते हुए आत्मधर्म कार्यालय मोटा आंकड़िया को जो कठिनाईयाँ आती हैं, वे सम्पादक और ट्रस्ट के लक्ष्य में आयी हैं और वे कठिनाईयाँ ऐसी हैं जो ग्राहकों के सहयोग से दूर हो सकती हैं, इससे ग्राहकों से निम्नानुसार निवेदन किया जाता है :–

(१) यद्यपि हिन्दी आत्मधर्म के ग्राहकों की संख्या करीब १०६६ है, तथापि नये वर्ष का चन्दा मात्र २४० ग्राहकों ने ही भरा है, और इस कारण शेष ग्राहकों को वी.पी. करना पड़ती है, उसमें समय भी अधिक लगता है, और कार्यकर्ताओं की आवश्यक्ता पड़ती है। यदि ग्राहक महानुभाव ध्यान रखकर अपना वार्षिक चन्दा समाप्त होने से कुछ समय पूर्व ही मनीआर्डर द्वारा भेज दें, तो उन्हें और कार्यालय को भी कष्ट न हो एवं अंक यथासमय प्राप्त हो सके।

(2) मोटा आंकड़िया एक छोटा गाँव है, यहाँ ब्रान्च पोस्ट ऑफिस है, इससे वी.पी. कार्य बहुत ही कम होता है, प्रतिदिन २० वी.पी. से अधिक नहीं ली जाती। इस कारण ८०० वी.पी. करने २-३ माह लग जायेंगे। किन्हीं ग्राहकों को तो अषाढ़ और श्रावण महीने में ही अंक प्राप्त होंगे जिस कारण से वे उतने दिन तक स्वाध्याय से वंचित रहेंगे, इससे ग्राहकों से उलहने आने लगते हैं। इन सब उलझनों को लक्ष्य में लेकर इस वर्ष वी.पी. राजकोट से करने का प्रबन्ध कर दिया है, क्योंकि सम्पादक राजकोट में कुछ दिनों के लिए ठहरे हुए थे और राजकोट में ५ पोस्ट आफिस हैं, इससे यह कार्य शीघ्र समाप्त करा दिया है; जिससे आपको वैशाख मास के अन्त तक अथवा जेठ मास के प्रारम्भ तक वैशाख का अंक मिल जाये। इस प्रकार इस वर्ष तो जैसे भी जो कुछ हुआ, प्रबन्ध हो गया है, लेकिन अगले वर्ष से ग्राहक महानुभाव मनि. द्वारा ही अपना वार्षिक चन्दा भेज देंगे ऐसी आशा है, और इस बात को लक्ष्य में रखने के लिए नम्र निवेदन है।

(३) इस वर्ष का प्रथम अङ्क दशलक्षणधर्म अंक के रूप में प्रगट किया गया है, जिसका रुचिपूर्वक अभ्यास करने से आप भली-भाँति जान सकेंगे कि धर्म क्या है और वह किस प्रकार हो सकता है। उस अंक का स्वाध्याय करने के लिए आप सबसे हमारा नम्र निवेदन है। आनेवाले

पर्यूषण पर्व में यदि इस अंक के अनुसार ही अभ्यास करके धर्म का स्वरूप जिज्ञासुजन समझलें, तो सम्भव है कि उनके आत्मा को एक महान लाभ हो जाए।

(४) आत्मधर्म में जो विषय लिए जाते हैं, उनमें निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का स्वरूप बताया जाता है और प्रत्येक विषय का सभी पक्षों से निरूपण किया जाता है, तथापि कितने ही ग्राहक स्थूल शंकाएँ और प्रश्न पूछने के लिए बारबार पत्र लिखते हैं। उनकी शंकाओं का समाधान आत्मधर्म के अगले अंकों में आ जाता है, इसलिए ग्राहक महानुभाव उन लेखों का भलीप्रकार स्वाध्याय और मनन करें तो अवश्य ही उनकी शंकाओं का समाधान हो जाएगा। परन्तु शंकाओं का समाधान पत्र-व्यवहार द्वारा होना अशक्य है, क्योंकि यदि एकबार के लिखने से उनकी शंका दूर नहीं हुई तो वे फिर से पत्र लिखते हैं और इसकारण पत्र-व्यवहार का कार्य बढ़ता जाता है। यदि उपरोक्त उपाय से शंकाएँ दूर न हों तो उनके समाधान के लिए सोनगढ़ पधारने के लिए हमारा आग्रह है। यदि हो सके तो कुछ समय निकालकर सोनगढ़ पधारकर अपनी शंकाओं का समाधान भलीभाँति कर सकते हैं, क्योंकि एक दूसरे के समक्ष जो स्पष्टीकरण और समाधान हो सकता है, वह पत्रव्यवहार द्वारा होना सम्भव है।

(५) यदि किसी को कोई सूचना देना हो अथवा कोई शिकायत हो तो सीधे जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) के पते पर पत्र भेजें, जिससे योग्य व्यवस्था हो सके। पत्र व्यवहार के समय ग्राहक नं. लिखना न भूलें।

(६) इस वर्ष से आत्मधर्म की साईज में कितने ही ग्राहकों को सूचनानुसार परिवर्तन कर दिया है, इससे वर्ष के अन्त में पुस्तकरूप में बंधवा लेने से स्वाध्याय करने में सुगमता होगी। आशा है यह परिवर्तन आपको पसन्द आयेगा।

(७) आप लोग इस पत्र के प्रति जो धर्मानुराग दर्शा रहे हैं, उसके लिए हम आपके आभारी हैं। अपने अनुराग को बनाये रखकर अपने स्नेहीजनों एवं मित्रों से इस पत्र को ग्राहक बनकर इसका स्वाध्याय करने की प्रेरणा करें, जिससे आपकी तरह उन्हें भी कुछ आत्मलाभ मिल सके और भविष्य में यह पत्र भी उन्नति करता रहे। हिन्दी भाषा जाननेवालों की संख्या बहुत है, तथापि ग्राहक संख्या कुल १००० जितनी ही है, जोकि बहुत ही कम होती है। हम आशा करते हैं कि आप उसे बढ़ने का प्रयत्न अवश्य करते रहेंगे।

श्री दिगम्बर जैन मन्दिरों को भेंट

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ की ओर से 'दशलक्षणधर्म' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें आचार्य श्री पद्मनन्दि कृत 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' की ५२ से लेकर १०६ तक की गाथाओं पर पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा दिये गए व्याख्यानों का संग्रह किया गया है, और संक्षेप में धर्म का स्वरूप भी समझाया गया है, पुस्तक का मूल्य एक रूपया है, परन्तु मुख्यतया दशलक्षण पर्व के दिनों में स्वाध्याय करने के लिए वह पुस्तक ५० दिगम्बर जैन मन्दिरों को भेंटरूप में देना निश्चित किया है, इसलिए जिन्हें पुस्तक की आवश्यक्ता हो, वे एक आने के टिकिट भेजकर निम्न पतों से पुस्तक प्राप्त कर सकते हैंः–

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ 188, प्रवचन 200। द्वितीय वर्ष पृष्ठ 216, प्रवचन 108। तृतीय वर्ष पृष्ठ 250, प्रवचन 125। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रूपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र